International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 2; Issue 5; September 2017; Page No. 852-854

असग़र वजाहत के कहानियों में अल्पसंख्यक विमर्श

मुहम्मद. शाहीद
चेलपुर, हुजुराबाद, करीमनगर, तेलंगाना, भारत।

प्रस्तावना

असग़र वजाहत एक ख्यातिलब्ध रचनाकार रहे है। उन्होंने देष और विदेश की भी काफी की है। अपने देश के सामाजिक – राजनीतिक आदि विविध संदर्भों की जमीनी समझ उनमें विद्यमान है। उनका भारतीय सामाजिक संस्कृति पर अटूट विश्वास रहा है। कहा जा सकता है कि असग़र वजाहत ने अपनी रचनाओं में इन्हीं सामाजिक संस्कृति के ताने बाने को दिखाने का सफल प्रयास किया है! उनकी दिलचस्पी प्राकृतिक सैर – सपाटे से ज्यादा समाज, इनकी सर्जनात्मकता बहुस्तरीय रहीं है। उनका अवदान जितना सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में है उतना ही टेलीवीज़न, फिल्म, पटकथा लेखन और पेटिंग कोलाज में भी है। वे हमेशा अलग ढंग में सोचते और कार्य करते है।

असग़र वजाहत एक साथ अनेक विधाओं में लिखने वाले सृजनात्मक लेखक है। असग़र वजाहत की कहानियों पर ध्यान केंद्रित करने पर पहली बात मन में यह उठती है कि सन् 1964–65 जब से कहानी लिखना उन्होंने शुरू किया तब से लेकर अब तक के चालीस–पैंतालीस साल लंबे काल–खण्ड में कुल जितनी कहानियाँ उने खाते में दर्ज है वे परिमाण में औसतन दूसरों के मुकाबले कम है।

असग़र वजाहत सांप्रदायिकता और उससे जुड़े तत्ववाद पर खुलकर लिखते हैं। वे अपनी अनेक कहानियों में मुस्लिम सांप्रदायिकता और तत्ववाद की गहरी खबर लेते हैं लेकिन ऐसा इसलिए नहीं है कि जाति तौर पर वे मुसलमान है। अनेक कहानियों में वे हिंदू सांप्रदायिकता और तत्ववाद की भी बराबर आलोचना करते है। असगर वजाहत की एक बहुत ही महत्वपूर्ण कहानी है – 'मुश्किल काम'। हिंदी में ऐसी कहानी शायद ही कोई दूसरी लिखी गई होगी। इस कहानी में दंगा करनेवाले दोनों गिरोह एक दारू के अड्डे पर इकट्ठा होते हैं और अपने–अपने करतूबों–कारनामों का जंगी तेवर के साथ परस्पर बखान करते हैं। इन दोनों गिरोहों के नेताओं की जो एक तरह की, अपने–अपने करतबों की मात्रा और गुणात्मकता की प्रतियोगिता–सी होती है, वह हैरतअंगेज है। इस प्रतिस्पर्धा से कुछ तथ्य लगभग स्पष्ट रूप से निकलकर सामने आते है। मसलन, एक तो यहीं कि हर तरह की सांप्रदायिकता का अंदरूनी चरित्र लगभग एक होता है। इनमें उन्नीस–बीस का उत्तर हो तो हो। अन्यता क्रूरता, वहशीपन, गुंडई, परस्पर घृणा, प्रतिक्रियावाद इत्यादि दोनों में एक जैसे पाये जाते हैं। दूसरे यह कि सांप्रदायिक हिंसा में दोनों तरफ का तबका नेतृत्व में होता है। हर संप्रदाय ऐसे तत्वों को लगातार प्रश्रय देता है जो बेखटके विधर्मियों की हत्या, लूट, आगजनी इत्यादी ने केवल कर सकें बल्कि उसका आनंद भी ले सकें। इस मामले में इनमें राजनेताओं की तरह कोई छद्म, दोगलेपन न दिखाई दे। इनका फण्डा साफ होता है कि यह करना है और इस तरह करना है। इसीलिए लेखक लिखता है कि ''ये लोग डींग नहीं हाँक रहे हैं, वही कह रहे हैं, जो कुछ इन्होंने किया है यहाँ जो कुछ लिखा जा रहा है, सच है और सच के सिवा कुछ भी नहीं।''[1]

इसी से एक बात यह भी निकलती है कि सांप्रदायिक हिंसा कोई कानून व्यवस्था का मामला नहीं है। कानून–व्यवस्था इसमें ज्यादा कुछ कर नहीं सकती है, क्योंकि कानून–व्यवस्था से जुड़े लोग तो खुद प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में इसमें शामिल होते हैं। अतः ''मदिरालय में बैठे इन गिरोहों से ज्यादा बड़ा दोष उन लोगों का है, जो इन्हें पालते, उकसाते हैं। इनमें राजनेता पुलिस– पीए.सी आदि के अलावा वे भाषाई अखबार और रिसाले भी आते हैं जिनमें ज्यादातियों को इतने भयानक और करुण ढंग से पेश किया जाता है तथा 'उत्तेजित करने वाले शीर्षकों नीचे खबरें' कुछ इस बड़े भावुक ढंग से लिखी जाती है कि लोग 'मरने–मारने या सिर फोड़ लेने पर मजबूर' हो जायें।''[2]

अपने व्यक्तिगत, निजी व्यावसायिक हितों और स्वार्थों की प्रतिपूर्ति में धर्मव्यवस्था का इस्तेमाल करने वाले लोगों, धर्म की आड़ में अपनी अनैतिकता को छुपाने और उसे जस्टिफाई करने वाले चरित्रों की सर्जना कहानी के मार्फत अपने संप्रदायवाद विरोधी विमर्श का असग़र वजाहत एक मौलिक पक्ष हैं। ये लोग और चरित्र हालांकि ज्यादातर मुसलमान है लेकिन यह मूलतः एक प्रवृत्ति है जो सर्वत्र मिलती है। असग़र वजाहत में ऐसे–चरित्र शुरू से लेकर बाद तक पाये जाते हैं। इनमें हिंदुस्तान के मशहूर ताले बनाने वाले कारखाने 'हाजी अब्दुल करीम एण्ड को' का मालिक हाजी अब्दुल करीम है, जो विधर्मियों का भय दिखादिखाकर गरीब मुस्लिम मजदूरों को किसी हिंदू मालिक के कारखाने में जाने से रोकता है। वहाँ ज्यादा मजदूरी मिलती है तथा कुछ सुविधाएँ भी है। हाजी अब्दुल करीम न तो सही मजदूरी ही देता है, न कोई सहुलियत। मजदूर उससे तंग हैं। वे वीरेंद्र बाबू के कारखाने में जाना चाहते हैं। लेकिन हाजी जी हैं कि खुले–आम धार्मिक भावुकता का सहारा लेते हैं और अपने शोषण पर कौम की खिदमत का मुलम्मा चढ़ा देते हैं–''इस्लाम तुम्हें यही सिखाता है कि एक मुसलमान के कारखाने में काम छोड़कर थोड़े से लालच में चले जाओ।....अगर कभी फसाद हो गया तो मार ही तो दिये जाओगे न? इस्लाम की सारी तालीमात भूल गये हो? यही तो कौम में सबसे बड़ी खराबी है कि एक मुसलमान किसी दूसरे भाई का फाइदा नहीं देख सकता।''[3]

हाजी जी का इस कथित इस्लाम परस्ती के नीचे गहरा तत्ववाद छुपा है। वे दरअसल किसी के सगे नहीं हैं। वे फसाद के वक्त करतब दिखाने वाली जुग्गन की पार्टी को चंदा देते हैं और उन्हें शाबासी भी। वे दरअसल उन लोगों में हैं, जो धार्मिक अलगाववाद के स्थाई उत्प्रेरक–स्रोत हैं। ऐसे लोग हर धर्म में अन्ततः दीमक की तरह पाये जाते हैं। हाजी अब्दुल करीम तत्ववाद और नव धनाढ्यता के संगमन के लगभग दो दशक पहले सांप्रदायिकता के नए चेहरे के रूप में अस्तित्व में आये ऐतिहासिक यथार्थ के प्रतीक हैं।

असग़र वजाहत अपनी बाद की कहानियों में मुस्लिम कूढ़मगजी को अपना तीखा निशाना बनाते हैं। तत्ववादी कूढ़मगजी की यह एक और हद है कि विदेशों में काम करने वाले, वहाँ बस चुके मुसलमान किस कदर परंपरावादी और ठस–दिमाग है। 'उनका डर' शीर्षक कहानी इसकी मिसाल है, जिसमें अमेरिका में रह रहे कुछ लोगों का संक्षिप्त चित्रण है। औरतों के प्रति, बच्चों–विशेषतः लड़कियों के प्रति, संस्कृति के प्रति इन लोगों की मानसिकता इतनी मध्ययुगीन और अनाधुनिक है कि यह विश्वास नहीं होता कि ये लोग अमेरिका जैसे आधुनिकतम देश में रह रहे हैं। लेखक एक पर्यवेक्षक की सी भूमिका में इस कहानी में है। वह बताता है कि ऐसा इसलिए है कि इन लोगों ने वहाँ भी 'एक्शन कमेटी फार द इण्डियन मुस्लिम' जैसी संस्था बना रखी है। जो हिन्दुस्तानी मुसलमानों की अमेरिका में मुकायंदगी करती है। अमेरिका के हर बड़े शहर में इसकी शाखाएँ हैं। क्या करती है यह संस्था? यह मस्जिद बनवाती हैं, हिंदुस्तान के मुसलमानों को चंदा भेजती है, हर रविवार को गेट–टुगेदार करती है जिसमें इन्हीं में से कोई किसी मजहबी नसल पर तकरीर करता है, मुशयरे करवाती है जिसमें इस्लामी फसलफे और उसूलों को सामने रखकर शायरी करने वाले शायर आते हैं। कहना न होगा कि यह हद दर्ज की इस्लामपरस्ती अन्ततः आदमी को कहाँ ले जाकर छोड़ती है। लेखक की टीप्पणी ध्यान देने योग्य है– ''यह सब हिंदुस्तान में मैं ने हमेशा देखा और भुगता था, लेकिन यह कहा जाना जरूरी है कि विदेशों में रह रहे मुसलमान ही नहीं हिंदू भी इसी लाइलाज कूढ़मगजी और परंपरावाद की गिरफ्त में पड़े दिखाई देते हैं।''[4]

इस संदर्भ में असग़र वजाहत की दो कहानियाँ विशेष ध्यान खींचती है। इन कहानियों में सांप्रदायिकता का आधार संयुक्त परिवार के टूटनें, सांप्रदायिक ध्रूविकरण की प्रक्रिया के तीव्र होने तथा इससे अल्पसंख्यक वर्ग मुसलमान की राजनीतिक एवं सामाजार्थिक विशेषतः आर्थिक कमर टूटने के एकदम ताजा यथार्थ का अवसन्नतापूर्ण शैली में अंकन हैं। शीशों का मसीहा कोई नही के अन्तिम हिस्से में एक शीशे के टूटने की जो तेज आवाज आती है और कमरे के बीचो–बीच शीशे के छोटे–छोटे टुकड़ों का जो ढेर लग गया है; यह दरअसल उसी खान बहादुर आइने का टूटना है जो एक समय संयुक्त समाज का प्रतीक–प्रतिरुप था। इस आइने की यह नियति कैसे हुई, इसकी पूरी प्रक्रिया सिलसिले के साथ फलैशबैक में यहाँ दी गयी है। इस सामाजिक ताने–बाने के टूटने, सांप्रदायिक ध्रुवीकरण का सबसे भयावह असर मामू जैसे लोगों की आजीविका पर पड़ा है, जो बहुसंख्यक इलाके में अपना करोबार करते हैं। एक तरह से यह बात दोनों तरफ लागू होती है। जो हाल हिन्दु–बहुल इलाकों में मुसलमानों का है, एकदम वही हान मुस्लिम–बहुल इलाके में हिन्दुओं का है– ''इधर के लौंडोंने जो काम चौक में किया था वही उन्होंने यहाँ किया.....।''[5] मामू अपने जीवन क इस उत्तर–पड़ाव पर लग भग स्तंभित हैं। वे जैसे जड़ता की मनः स्थिति में आ पहुँचे है– ''शीशे के छोटे–छोटे टुकड़ों में सैकड़ों मामू मेरी तरफ देख रहे थे। न कोई शिकवा, न शिकायत, न आहत होने का भाव, न प्रतिशोध ..... उनकी आँखों में अगर कुछ या तो सिर्फ यह कि कुछ न था।''[6] यह जड़ता इधर भी है, उधर भी। यह दोनों तरफ बराबर एक सी होती है। यह जड़ता इस समय उन लोगों में है जो सचमुच में गैर–फिरकापरस्त और संयुक्त सामाजिकता के अभ्यस्त रहे हैं – ''वो शहर भर क मामू थे। मामू का नाम शायद मामू को भी न पता था। हिन्दु–मुस्लिम सभी उन्हे मामू कहते थे।''[7] जड़ता की लगभग इसी स्थिति में 'मेरे मौला' कहानी के खलील मियाँ भी हैं। यहाँ खलील मियाँ ही नहीं, इंजनीयर लख्ते हसनै नकवी जैसे केवल नाम के मुसलमान भी भारी किंकर्तव्यमूढ़ता जैसी स्थिति में हैं। उन नेशनालिस्ट मुसलमानों में हैं जो अलगदवादी मानसिकता से परे हैं और सचमुच धर्म निरपेक्ष हैं। कहानी में 'नेशनलिस्ट' शब्द से एक ऐसा मारक व्यंग्य पैदा किया है जो बहुसंख्यक समुदाय के फासीवाद दुराग्रहों को खोल कर रख देता है– ''आप नेशनलिस्ट मुसलमान हो नकवी साहब..... नेशनलिस्ट..... अरे आप होली में रंग खेलते हो ..... आप नेशनलिस्ट मुसलमान हो..... तिवारी जी, क्या आप नेशनलिस्ट हिन्दू हो? आप ईद में सेवई खाते हो? आप बकरीद में कबाब खाते हो? आप नेशनलिस्ट हिन्दू हो?''[8] इस छोटे से अंश में बिना कहे अल्पसंख्यक वर्ग की जिस पीड़ा को मूर्तिमान किया गया है, वह कथा की नाट्यपरक सांकेतिकता से उपलब्ध होती है। इस देश में बहुसंख्यक फासीवाद की स्थिति यह है कि वह अल्पसंख्यक वर्ग विशेषतः मुसलमानों से यह प्रमाण माँगता है कि सिद्ध करो कि तुम 'राष्ट्रवादी' हो।

असग़र वजाहत अपनी कहानियों में नाट्य की प्रविधि का इस कदर इस्तेमाल करते हैं कि उनकी कहानियाँ तो केवल संवादात्मक है। ऐसी ही एक कहानी है। 'गुरु–चेला संवाद'। जिसमें गुरु जी की कथित स्थापनाएँ है– ''हमारे देश के मुसलमान विदेशी हैं, वे ईरान, तुरान और अरब से आए है और उन्हें वहीं लौट जाना चाहिए, भारतवर्ष केवल हिन्दूओं का देश है, मुसलमान गन्दे, अनपढ़, अत्याचारी, बड़े कट्टर धार्मिक, आक्रान्त, देश का बटँवारा कराने वाले होते है।''[9] ये गुरु जी कौन हैं और उनकी ये स्थापनाएँ कहाँ से आई है। यहाँ चेले की प्रशंसा करनी होगी जो गुरु जी को माँजता है– ''जब धर्म की स्वदेशीयता के नाम पर चीनी, जपानी, थाई और बर्मी बौद्धों को भारत नहीं बुलवाया जा सकता तो धर्म की विदेशीयता के नाम पर मुसलमानों को यहाँ से कैसे निकाला जा सकता है? जब भारतवर्ष में केवल हिंदू रह जाएँगे तो क्या उसकी स्थिति एक दम पाकिस्तान जैसी नहीं हो जाएगी, जहाँ केवल मुसलमान रहते है और एक – दूसरे के खून के प्यासे हैं।''[10]

'तेरह सौ साल का बेबी कैमिल' के जनाब ख्वाजा अब्दुल हक्कानी साहब है जो इस्लाम की आड़ में हर तरह की व्यक्तिगत और पारिवारिक अनैतिकता को जस्टीफाई करते चलते हैं। और कहते हैं ''मैं तुम सबसे सच्चा और पक्का मुसलमान हूँ।''[11] हक्कानी साहब एक बीबी के रहते हुए अपने से आधे कद की एक बुर्कापोष लड़की से निकाह कर लाते हैं और पहली बीबी को मार–पीटकर घर से निकाल देते हैं। लड़का तंग आकर दिल्ली भाग जाता है और वहाँ रिक्शा चलाने लगता है तो वे कहते हैं– ''यहाँ बहुत गौरवपूर्ण है क्योंकि इस्लाम मेहनत करने को बड़ा ऊँचा दर्जा देता है।''[12] अपनी ग्यारह साल की लड़की की शादी एक पचास साल के बूढ़े से कर देते हैं। अपनी दूसरी बीबी, जो अपेक्षाकृत युवा थी, के साथ गुलामों जैसा बर्ताव करते हैं। उनका तर्क है ''हजरत कलामे–पाक में साफ कहा गया है कि औरते तुम्हारी खेतियाँ है।''[13] तीसरी बार वे हैदराबाद से एक कमसिन लड़की को खरीद लाते है। और गर्व से बताते हैं कि यह उन्होने तीसरा निकाह किया है। यह सिलसिला न जाने कब तक चलना है। हक्कानी पढ़े–लेखे हैं, कॉलेज में प्रोफेसर हैं। लेकिन दिमाग में ऐसा कूड़ा–कबाड़ भरा है कि खुद उनके धर्म के लोग और साथी प्राध्यापक उनसे परेशान है और कोई वास्ता नहीं रखते।

निष्कर्षत

कहा जा सकता है कि सरलता यानी की जीवन की सहजता स्वभाविकता असग़र वजाहत की कहानियों की केंद्रीय चेतना है और यह चीज़ उनकी कहानियों में जगह–जगह अभिव्यंजित हुई असगर वजाहत सांप्रदायिकता उसमें जुड़े तत्ववाद पर खुलकर और पर्याप्त

तल्की के साथ लिखते है। समकालीन, समसामयिक युग के समाज का यथार्थपूर्ण चित्रण एक तरह से असग़र वजाहत के कथा साहित्य को समाजशास्त्रीय आयाम देने में सक्षम सिद्ध हुआ है।

संदर्भ

1. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), मुश्किल काम, असग़र वजाहत, पृ.सं. 189
2. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), मुश्किल काम, असग़र वजाहत, पृ.सं. 189
3. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), सारी तालीमात, असग़र वजाहत, पृ.सं. 44
4. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), उनका डर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 44
5. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), शीशों का मसीहा कोई नहीं, असग़र वजाहत, पृ.सं. 285
6. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), उनका डर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 285
7. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), उनका डर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 286
8. पचासी कहानियाँ (कहानी संग्रह), उनका डर, असगर वजाहत, पृ.सं. 284
9. मैं हिंदू हूँ, असग़र वजाहत, पृ.सं. 101
10. मैं हिंदू हूँ, असग़र वजाहत, पृ.सं. 100,101,102
11. मै हिन्दू हूँ, असग़र वजाहत, पृ.सं. 139
12. मै हिन्दू हूँ, असग़र वजाहत, पृ.सं. 137
13. मै हिन्दू हूँ, असग़र वजाहत, पृ.सं. 138